सूची।

भूमिका।

गीता अनमोल रत्न है। जिस तरह अनमोल रत्न बड़ी कठिनतासे मिलते हैं, उसी तरह इस गीताके महान् उद्देश्य, शुभकर उपदेश और कठोरतर विषय भी बड़ी कठिनतासे समझमें आते हैं। फिर मुझ सरीखे अल्पज्ञ और अत्यन्त तुच्छ बुद्धिवाले मनुष्यकी क्या सामर्थ्य कि, इस ग्रन्थकी भूमिका लिख सकें। लिखना इतनाही है, कि इस वेदमयी, सर्वशास्त्रमयी और तत्त्वज्ञानमयी गीतामें दिये हुए श्रीकृष्ण भगवान्के अमृत सरीखे उपदेशोंके,केवल हिन्दीजाननेवालोंकी समझमें न आनेके कारण जनसमाजका उतना उपकार नहीं होता जितना कि होना चाहिये और न गीताकी रचनाके उद्देश्यकी पूर्ण-तया सिद्धिही होती है तथा संसार इस दुर्लभ अमृतको देख-देख तथा पूज-पूजकरही बिना पान किये रह जाता है।

ऐसा न होना चाहिये। उचित तो यह है, कि बालकपनसे ही इसके अर्थका थोड़ा-थोड़ा बीज बालकोंके कोमल हृदयों पर आरम्भमेंही बो दिया जाय, जिसमें उनकी बुद्धिकी वृद्धिके साथ-ही-साथ वेदव्यासके उद्देश्यकी भी कुछ सिद्धि होती जाय तथा जगत्का कुछ उपकार भी हो। बस, इसी उद्देश्यसे तथा यही विचारकर कि जिन महाशयोंका संस्कृतमें उतना बढ़ा-चढ़ा

अभ्यास नहीं है कि, वे गीता सरीखे कठोरतर ग्रन्थका आशय समझ कर परब्रह्म जनार्दनके उपदेशोंको समझ सकें, मैंने अपनी अल्पशक्ति और हीनबुद्धिके अनुसार इस ग्रन्थके आशयोंको, जहाँ-तक बन पड़ा है, सरल हिन्दीमें खुलासा तौर पर समझानेका उद्योग किया है। सो भी, अपनेही भरोसे नहीं—बल्कि मैसूर-राज्यके श्रीयुत महादेव शास्त्री एम० ए० की अनुवादित भग-वद्गीता और शङ्कर-भाष्यके सहारे अपने उद्देश्यकी सिद्धिका प्रयत्न किया है।

यद्यपि इन अमूल्य उपदेशोंके अर्थको समझानेके समय अन्यान्य महानुभावोंकी बनाई हुई टीकाएँ, गीतापर उनके विचार, भाष्य आदि जहाँ तक मिले हैं, मैं सभोंको देखता गया हूँ; परन्तु प्रधान सहायता उपर्युक्त महोदयके किये हुए अँगरेज़ी अनुवादसेही ली है। आपके ग्रन्थकी सहायतासेही मैंने यह कार्य पूरा किया है अतएव मैं आपका विशेष कृतज्ञ हूँ।

आगे इस ग्रन्थके प्रथम दो फ़ार्म एक अन्य महाशय ने लिखे थे। कारणवश वे न लिख सके, अतएव लाचार हो कर आगे के १६ अध्याय मुझेही लिखने पड़े। यदि उक्त महाशय इसका लिखना न छोड़ बैठते, तो मैं इस महा कठिन काममें हर्गिज़ हाथ न लगाता।

इस ग्रन्थको लिखते समय, मैंने इस बातपर विशेष ध्यान रखा है कि गीताके उपदेशोंके भाव भली भाँति व्यक्त हों, इसलिये साफ़ सरल शब्दोंमें भावार्थ अलग समझानेका उद्योग किया है, साथही विषय ठीक-ठीक रखने पर भी पूरा ध्यान रखा है। जहाँ तक अपनी सामर्थ्य थी, इसको सुन्दर सजाकरही पाठकों को अर्पण करनेका साहस किया है। अब यह ग्रन्थ कैसा हुआ, यह पाठक-गण आपही समझ लें और यदि कहीं त्रुटियाँ नज़र आवें तो समय-समयपर मुझे भी सूचित किया करें, ताकि द्वितीय संस्करणमें

इसका कुछ सुधार हो जाय। मैं इतनाही चाहता हूँ, कि बालक इससे शिक्षा ग्रहण करें, केवल हिन्दी पढ़े-लिखे मनुष्य श्रीमधुसूदनके उपदेशोंका सार समझकर लाभान्वित हों और देशका कुछ उपकार हो। यदि इसका कुछभी अंश सत्य हुआ, तो मैं अपने उद्योगको सफल जानूँगा।

विनीत—

हरिदास।

द्वितीय संस्करण
की
भूमिका।

मैं एक नितान्त अल्पज्ञ मनुष्य हूँ। सच तो यह है, कि मुझ में कुछ भी विद्या और बुद्धि नहीं, तिसपर भी मैंने गीता जैसे कठिन ग्रन्थके अनुवाद करनेमें क्यों हाथ डाला और उसकी क्या ज़रूरत थी, इन सब प्रश्नोंका उत्तर मैं पहले संस्करणकी भूमिका में लिख चुका हूँ। अब यहाँ फिरसे दोहरानेकी आवश्यकता नहीं।

मेरे जैसे अल्पज्ञके अनुवादमें अनेक भूलें और त्रुटियाँ रह गई होंगी, इसमें कुछ भी संशय नहीं। अनेक दोषोंके रहने पर भी प्राय: सभी हिन्दी-पत्रोंने मेरे अनुवाद की जो सराहना की, वह उन सबकी उदारताके सिवाय और कुछ नहीं है। समालोचकोंके सिवा, साधारण पढ़े-लिखे सज्जनों और अनेक विद्वानोंने भी मेरे अनुवादको पसन्द करके गीताकी १००० कापियाँ हाथों-हाथ ख़रीद लीं और अपनी अमूल्य सम्मतियाँ प्रदानकर मुझे बहुत कुछ उपकृत किया।

दरभंगेके "मिथिलामिहिर" और इटावेके "ब्राह्मणसर्वस्व" ने, अनुवादकी सराहना करते हुए, अनुवादके साथ मूल श्लोक देनेकी सम्मतियाँ दीं। मैंने भी उनकी सम्मतियाँ नितान्त उचित समझीं; इसीसे इस बार अनुवाद के ऊपर मूल श्लोक लगा दिये हैं। अनुवाद वही पहले का है। सिर्फ पहले और दूसरे अध्याय में कुछ नया काम किया गया है। इन दो अध्यायोंमें, टीका-टिप्पणियाँ और शंका-समाधान खूब खोज-जाँचके साथ अधिकतासे लिखे गये हैं। अनुवादमें मूलका भाव, जैसे तैसे, लानेकी चेष्टा की गयी है; मगर एक-एक शब्दके अर्थ पर ख्याल नहीं रखा गया है; क्योंकि वैसा करनेसे यह अनुवाद भी उसी पुराने ढाँचेका होता। जो सरलता इसमें अब है, वह न रहती।

इस बार मुझे अनेक झंझटोंसे ज़रा भी फ़ुर्सत नहीं मिली; इसीसे मेरे प्रिय मित्र बाबू हरिरामजीनेही मूलके साथ अनुवादका मेल मिलाया और प्रूफ़ वगैरः देखे हैं। आपको इस बड़ी पुस्तकके तय्यार करानेमें बड़ी मिहनत पड़ी है, इसलिये मैं आपको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ।

हरिदास।

तृतीय संस्करणकी

भूमिका।

गीताके प्रेमियों, धर्मके अनुरागियों और दयालु पाठकोंने जिस प्रेमसे मेरे किये हुए गीताके अनुवाद को अपनाया है, उसे देखकर यदि मैं यह अनुमान करूँ कि मैंने जिस उद्देश्यसे यह अनुवाद किया था वह सफल हुआ है तो शायद अनुचित न होगा। गीता जैसे गम्भीर ज्ञानमय ग्रन्थका आशय सरल भाषामें, सहजहीमें

समझानेके लियेही मैंने यह अनुवाद किया था। बड़े-बड़े जटिल अनुवादोंसे पाठकोंका जी घबरा उठता है और मूलका आशय समझना तो दूरकी बात, वे टीकाके भवँरजालमें फँस कर चक्कर खाने लगते हैं। मैंने अपने अनुवादमें अपनी शक्ति-भर कहीं भी जटिलता नहीं आने दी है और मतलबको आइनेकी तरह दिखला देनेका विशेष रूपसे प्रयत्न किया है। यही कारण है कि इसके दो संस्करण थोड़ेही दिनोंमें समाप्त हो गये और आज तीसरा संस्करण प्रकाशित किया जाता है। जिस उदारतासे गीताके भक्तोंने मेरे परिश्रमको सराहा और पुस्तक खरीद कर समस्त व्ययको सार्थक किया है, उसके लिये मैं उनका सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

इस संस्करणमें, दूसरे संस्करणमें रही हुई त्रुटियोंको दूर करनेके सिवा, आरम्भमें "श्रीमद्भगवद्गीता-सार" नामका एक निबन्ध भी दे दिया गया है, जिससे गीताके महत्त्व और उसके भीतरी तत्त्वों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह निबन्ध श्रीयुत बाबू शिवपूजन रायजी, एम० ए० ने लिखा है, जिसके लिये मैं इन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। यह निबन्ध कैसा उपयोगी है, यह पाठक स्वयंही देख लेंगे, मेरा कुछ कहना निष्प्रयोजन है। तोभी इतना कह सकता हूँ कि इससे इस संस्करणको उपयोगिता बढ़ गई है।

मुझे पूर्ण आशा है कि इस संस्करणको भी पाठक पहलेहीकी तरह अपनावेंगे और भगवान्‌के उपदेशामृत का पान कर, पुण्यके पथमें अग्रसर होते हुए मुझे कृतार्थ करेंगे।

कलकत्ता,
१५ अक्टोबर, १९१८।

विनीत,
हरिदास।

गीताका परिचय।

यस्माद्धर्ममयी गीता, सर्वज्ञान-प्रयोजिका।

सर्वशास्त्रमयी गीता, तस्माद्गीता विशिष्यते॥

अर्थात् गीताके पढ़ने और उसको समझनेसे धर्मकी बातें मालूम होती हैं, सब तरहके ज्ञानोंकी वृद्धि होती है, सब शास्त्रोंके तत्त्वकी बातें मालूम होती हैं, इसलिये गीता सब शास्त्रोंसे श्रेष्ठ है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ऊपर दिये हुए श्लोक का एक-एक अक्षर सत्य और ठीक-ठीक है; क्योंकि गीताकी ऐसेही समयमें सृष्टि हुई है और श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुन को ये अमृत-भरे उपदेश ऐसेही समय दिये हैं, जिस समय अर्जुन बहुतही व्याकुल हो उठे थे, क्षत्रियोचित भाव उनके हृदयसे दूर हुआ जाता था तथा वह, क्षत्रियोंके कर्मको भूल, रणभूमिसे भागा चाहते थे। ऐसी अवस्थामें, ऐसे अवसर पर और ऐसे रणभूमि सरीखे चित्तको हिला देनेवाले स्थानमें जिस अमृतरूपी उपदेशने अर्जुन सरीखे व्यग्र-चित्त मनुष्यका हृदय स्थिर और शान्त कर दिया, उस उपदेशको सुख और शान्तिमें बैठा हुआ मनुष्य यदि ध्यान देकर, समझकर पढ़े; तो इसमें क्या सन्देह है कि उसका ज्ञान बहुत बढ़ जायगा और धर्म तथा कर्मके पूरे-पूरे तत्त्वको वह भली भाँति समझ सकेगा—यही एक प्रधान कारण है कि प्रत्येक विचारशील उन्नत जातिने इस पवित्र ग्रन्थका बहुतही विशेष आदर किया है।

महाभारतके समयकी बात है, ठीक-ठीक समयका पूरा पता न लगनेपर भी, अनुमानसे पाँच हज़ार वर्ष पहिले की यह घटना

मालूम होती है। उस समय भारतमें हस्तिनापुर नामक एक समृद्धिशाली नगर था। वहाँ चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। उन राजाओंमें शान्तनु बड़ेही प्रतापी राजा हुए। उनके पुत्रका नाम था भीष्म। कारणवश, भीष्मके रहते हुए भी शान्तनुने योजन-गन्धा नामकी मल्लाहकी कन्यासे विवाह किया। उससे उनके दो पुत्र हुए, जो असमयमेंही मर गये। उनके उन दोनों पुत्रोंसे पाण्डु और धृतराष्ट्र नामके दो पुत्र हुए। पाण्डु ही राज्य के मालिक हुए। पाण्डुसे युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए; जिनमें सबसे बड़ा दुर्योधन था। धृतराष्ट्रके पुत्र कौरव कहलाये और पाण्डुके पाँचों पुत्र पाण्डव कहलाये। पाण्डु भी अपने पुत्रोंको छोटी अवस्थामेंही छोड़ परलोक सिधार गये; इसलिये राज्यकी देख-भालका काम धृतराष्ट्रके हाथोंमें गया।

आरम्भसेही धृतराष्ट्रकी नीयत खोटी थी। उनके कामोंसे मालूम होता है कि, उनकी इच्छा अपनेही पुत्रों को समस्त राज्य दे देने की थी। उनका बड़ा बेटा दुर्योधन भी पाण्डवोंको देख न सकता था, दिन-रात उनका निधनही मनाया करता था। पाण्डवोंके मारनेके बहुत कुछ यत्न करने भी, ईश्वरकी कृपासे, वह पाण्डवोंका कुछ भी बिगाड़ न सका, पाण्डव बाल-बाल बचते ही गये। पाण्डवोंकी शिक्षा भी अच्छी हुई, अस्त्र-शिक्षामें भी पाण्डवोंनेही विजय पायी। अर्जुन बड़ेही भारी धनुर्द्धर हुए। पाण्डवोंसे दुर्योधनकी न पटती देख, अन्तमें बहुत कुछ समझाने-बुझानेपर धृतराष्ट्र ने पाण्डवोंको राज्य बाँट दिया।

राज्य पानेपर पाण्डवोंने अपने राज्यकी उन्नति आरम्भ की। पाण्डव खूब बली थे। उन्होंने अपने भुज-बलसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाएँ जीत कर राजसूय-यज्ञ किया। उनका सभा-मण्डप मय नामक एक दैत्यने ऐसा अद्भुत बनाया, जैसा न कभी पृथ्वी पर बना और न बनेगा। भारतके सभी

राज्योंने पाण्डवोंकी वश्यता स्वीकार की। चीन, काम्बोजिया, कन्दहार आदि पृथ्वीके सभी नरपतियोंने पाण्डवोंको अपना सम्राट् समझा। पृथ्वीभरके राजाओंने पाण्डवोंको अनेक प्रकारके धन-रत्न आदि भेटमें दिये। पाण्डव अब बड़ेही वैभवशाली हुए। समस्त भूमण्डलके वह एकमात्र चक्रवर्त्ती राजा हुए।

दुर्योधनसे पाण्डवोंकी यह श्री और उन्नति देखी न गई। उसने पाण्डवोंको बुलाकर छलसे जूआ खेलना आरम्भ किया। जूएमें पाण्डव बराबर हारते गये, यहाँ तक कि अपनी परम प्रिया स्त्री द्रौपदी को भी हार गये। इस द्यूत-सभामें द्रौपदीको बहुत कुछ अपमान सहना पड़ा। जूएमें दुर्योधनका छल भी पाण्डवोंसे छिपा न रहा। पाण्डव उसी समयसे समझ गये कि दुर्योधन कुछ अनर्थ करेगा। सब सभासदोंके समझाने पर, बड़ी कठिनतासे द्रौपदी को तो छुटकारा मिल गया; परन्तु पाण्डवोंको १२ वर्षका बनवास और १ वर्षका अज्ञातवास मिला। प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण पाण्डवोंको ये सब दुःख सहन करनेही पड़े। अज्ञातवास का १३ वाँ वर्ष भी पाण्डवोंने राजा विराटके यहाँ छिपकर नौकरी करके बिता दिया *।

प्रतिज्ञाके तेरह वर्ष बीत जाने पर पाण्डवोंकी ओर से श्रीकृष्ण भगवान् दूत बनकर कौरवोंके पास गये और उनसे पाण्डवोंका राज्य माँगा। इस समय दुर्योधनके हाथमें राज्यकी देख-रेख थी, दुर्योधनने राज्य देनेसे इनकार कर दिया। कृष्णने बहुत कुछ समझाया, अन्तमें पाँच गाँवही माँगे; परन्तु दुर्योधनने साफ़ कह दिया कि बिना युद्धके मैं एक सुईकी नोक बराबर भूमि भी न दूँगा। लाचार, कृष्ण लौट आये।

अब दोनों ओरसे युद्ध की तय्यारियाँ होने लगीं। दुर्योधनको

---

* पाण्डवों के अज्ञातवास के १३ वें सालका हाल अगर औपन्यासिक भाषामें देखना हो तो कृपाकर यहाँ से "पाप-परिणाम" मँगा देखें। दाम ॥=) डाक खर्च =)।

भी मालुम हो गया कि पाण्डवोंसे लड़ाई होगी। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्य, जयद्रथ आदि बड़े-बड़े नामी धनुर्धर कौरवों की ओर हुए। धृष्टकेतु, चेकितान, कुन्तिभोज, शैव्य, धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि राजे तथा अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र पाण्डवोंकी ओर हुए। कौरवी सेनाके सञ्चालनका भार भीष्म-पितामहको दिया गया और पाण्डवी सेनाके सेनापति भीमसेन हुए। दोनों ओरकी सेनाएँ सजधजकर मोर्चों पर आ डटीं। दोनों ओरसे लड़ाई का मारू बाजा बजने लगा। जब दोनों सेनाएँ एकत्रित हो गईं, तब अर्जुनने अपने सारथि (क्योंकि श्रीकृष्णनेही अर्जुनके रथको चलानेका भार लिया था) श्रीकृष्ण को रथ दोनों दलोंके बीचमें, इसलिये, ले चलनेको कहा कि देखें कौन-कौन हमलोगोंसे युद्ध करनेके लिये विपक्षमें खड़े हुए हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने रथ दोनों दलोंके बीचमें ले जाकर खड़ा किया। अब अर्जुन अपने विपक्षी दलको देखने लगे—अपने सम्बन्धी, बाबा, गुरु, चाचा, मामा, पौत्र, श्वशुर, सभी अपनेही अपने दिखाई देने लगे। यह दृश्य देख, अर्जुनको बड़ा दुःख हुआ। वह करुणामें भरकर, कृष्णसे बोले—"हे कृष्ण! इस स्थानपर आकर तो अब मेरी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं होती, मेरा मुँह सूख रहा है, नसें ढीली पड़ी जाती हैं, कलेजा काँप रहा है, यह धनुष मेरे हाथसे गिराही चाहता है, माथेमें चक्कर आ रहे हैं; क्योंकि जिनसे युद्ध करना होगा, वे सब अपनेही सम्बन्धी, भाई-बन्धु, गुरु आदि हैं। इन अपनेही मनुष्योंको मारकर मैं क्या सुखी होऊँगा? यह राज्यपाट यदि मैंने जीत ही लिया तो किस काम आवेगा? यह बात मेरी समझमें नहीं आती। अब मुझे जयकी ज़रूरत नहीं है, मैं राज्यकी भी इच्छा नहीं करता, न इतने आत्मीयों को मारकर मुझे सुख-भोग भोगनेकी इच्छा है। राज्य-भोगसे क्या होगा? जिनके लिये राज्य-भोगकी

आवश्यकता है, वे तो यहाँ मरने-मारनेके लिये खड़े हैं। ये हमारे गुरु, पितामह, श्वशुर, साले और अन्यान्य सम्बन्धी हैं। हे मधुसूदन! ये चाहें मुझे मार डालें, पर मैं इन पर शस्त्र नहीं चला सकता। इन गुरुजनोंको मारकर राज्य भोगनेकी अपेक्षा भीख माँगकर दिन काटना अच्छा है। यदि मुझे त्रिलोकी का राज्य भी मिल जाय, तोभी मैं इनपर शस्त्र नहीं उठा सकता।"

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने देखा कि, अर्जुन इस समय वृथा मिथ्या मोह-जालमें फँसकर अपने धर्मसे डिग गया है, इसे ब्रह्मज्ञान नहीं है; इसीसे मोह और शोकने इसे धर दबाया है। यदि इस समय इसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया जाय, तो यह फिर अपने क्षत्रियोचित धर्मपर आरूढ़ हो सकता है। यह सोचकर श्रीकृष्ण भगवान् समस्त वेदोंका सार, ब्रह्मज्ञान, साधनों-सहित अर्जुनको सुनाने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश देकर अर्जुनकी आँखें खोलीं और उसे अपने धर्ममें लगा दिया उसीका नाम "गीता" हुआ। यही गीताका यथार्थ परिचय है।

गीता ज्ञानका भण्डार है। गीता धर्ममयी, सर्वशास्त्रमयी और सब प्रकारके तत्त्वज्ञानोंसे भरी हुई है। गीता का एक-एक श्लोक, एक-एक पद, यहाँ तक कि एक-एक अक्षर भी ज्ञानसे शून्य नहीं है। यह योग-शास्त्रका विषय है; इसमें एकमात्र ब्रह्म-विद्याका निरूपण है। इस ग्रन्थके सभी श्लोक मन्त्र हैं। समूची गीतामें ज्ञाननिष्ठाका वर्णन है; क्योंकि ज्ञाननिष्ठाही मोक्षका कारण है। बिना ज्ञाननिष्ठाके मुक्ति नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञाननिष्ठाके पहिले उपासना और उपासनाके पहिले कर्मयोग या कर्म-निष्ठाकी आवश्यकता आ पड़ती है। अतः कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंही मोक्षके कारण हैं। इन तीनोंमें से किसी के बिना काम नहीं चल सकता। तीनोंही के साधनकी आवश्यकता

है। तीनोंके साधनसेही मोक्ष मिलती है। उपासना और ज्ञानके बिना, केवल कर्मसे काम नहीं चलता। न कर्मके बिना केवल उपासना और ज्ञानसेही काम चलता है, इसी तरह ज्ञानके बिना केवल कर्म और उपासनासे भी काम नहीं चल सकता। तात्पर्य यह है, कि तीनोंमें से एक भी न रहने से, दोनों बेकार हो जाते हैं। ये सदा एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं।

अब इन दोनोंमें भेद यह है, कि कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, उपासनासे चित्त एकाग्र होता है और ज्ञानसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये गीताके पहले छः अध्यायोंमें कर्म-काण्डका वर्णन है; दूसरे छः अध्यायोंमें उपासनाका वर्णन है और शेषके छः अध्यायोंमें ज्ञान-निष्ठाका वर्णन है। इस तरह १८ अध्यायों और ७०० श्लोकोंमें गीता समाप्त की गयी है। जब मनुष्य कर्मयोग और उपासनामें पक्का हो जाता है, तब उसके सामने ज्ञान-निष्ठा मुख्य हो जाती है और जब वह ज्ञान-निष्ठामें भी परिपक्व हो जाता है, तब उसके सब दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

जिस तरह वेदमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निरूपण किया गया है; उसी तरह इस गीतामें भी कर्म, उपासना और ज्ञानका निरूपण किया गया है। गीतामें ऊँच-नीचका भेद नहीं है। गीताका मुख्य उपदेश है कि आत्मा सबमें समान है, सभी ब्रह्म हैं और जीव तथा ब्रह्ममें भेद नहीं है।

कृष्णने अर्जुनके उपकारके लिये जिस तरह यह ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया, अर्जुनने जिस भाँति इन उपदेशोंको ध्यानसे समझ-कर अपना कर्म ठीक-ठीक साधन किया; उसी तरह महर्षि वेद-व्यासने भी जगत्के उपकारके लिये यह विचार कर कि कुछ दिनोंमें वह समय आवेगा जब लोग वेदको समझ न सकेंगे और ब्रह्मविद्याको भी जान न सकेंगे, भगवान्के मुखसे निकले हुए ब्रह्मज्ञानको यथा-

स्थान सजाकर अपने लिखे महाभारतकी भीष्म-पर्वमें उसे जोड़ दिया और उसका नाम "भगवद्गीता" रख दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता अलभ्य ग्रन्थ है, इसके समान उपदेशपूर्ण कोई ग्रन्थ नहीं है; इसके प्रमाण-स्वरूपमें कृष्ण भगवान् ने स्वयंही कहा है :—

गीताश्रयेऽहंतिष्ठामि, गीतामेचोत्तमंगृहम् ।

गीताज्ञानमुपाश्रित्य, त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥

मैं गीताके आश्रय परही रहता हूँ, गीताही मेरा परमोत्तम घर है और मैं गीताके ज्ञानका आश्रय लेकरही त्रिलोकीका भरण-पोषण करता हूँ।

और भी कहा है—

चिदानन्देनकृष्णेन, प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।

वेदत्रयीपरानन्दा, तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥

यह गीता स्वयं परब्रह्मरूप चिदानन्द श्रीकृष्णने अपने मुखसे अर्जुनको सुनाई है; इससे यह वेदत्रयी-रूप, कर्मकाण्डमय और सदा आनन्द तथा तत्त्वज्ञान को देनेवाली है।

विचारनेकी बात है कि, जिस गीताके वक्ता स्वयं पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, श्रोता अर्जुन सरीखे महाधुरन्धर तेजस्वी और जितेन्द्रिय पुरुष हैं और कर्त्ता कृष्णद्वैपायन व्यास जैसे महात्मा हैं, भला उसके भवघ्नी, त्रयतापनाशिनी और तत्त्वार्थज्ञानदायिनी होनेमें क्या संशय है ?

इसमें तो कोई सन्देहही नहीं है, कि गीतासे बढ़कर ज्ञानका कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है, इसको समझकर पढ़नेसे मनुष्य ज्ञान-सिद्धि प्राप्त करता है, और अन्तमें जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर ब्रह्मरूप हो जाता है। जो मनुष्य-देह पाकर इस गीतारूपी

अमृतको नहीं पीता है, वह अमृत छोड़कर विष पीता है; अतएव जिन्हें जन्म-मरणके कष्टसे छुटकारा पाना हो, जिन्हें संसार-सागरसे तरना हो, वे गीताको समझ कर पढ़ें, पढ़ावें, सुनें और सुनावें।

गीताका विषय कठोर है, इसमें ज्ञानकी बातें हैं, ज्ञानकी बातें बिना समझे, बिना बुद्धि लड़ाये, माथे में नहीं घुसतीं। जो बात समझमें नहीं आती, जिस बातमें मस्तिष्क काम नहीं करता, उन बातोंको केवल रट लेनेसे कोई फल नहीं मिलता। गीता श्रीकृष्ण-प्रदत्त उपदेश है। किसीके उपदेशको रटनेसे फल नहीं हो सकता। उपदेशका अर्थ समझकर उसीके अनुसार कार्य करना चाहिये, तब फल मिलता है। कहा है—

गीतार्थश्रवणासक्तो, महापापयुतोऽपिवा।
वैकुण्ठसमवाप्नोति, विष्णुनासह मोदते॥

महापापी भी यदि गीताके अर्थको (केवल पद्यको नहीं) सुननेमें आसक्त होता है तो वह भी वैकुण्ठ पाकर विष्णु भगवान्के पास रहता हुआ आनन्द करता है।

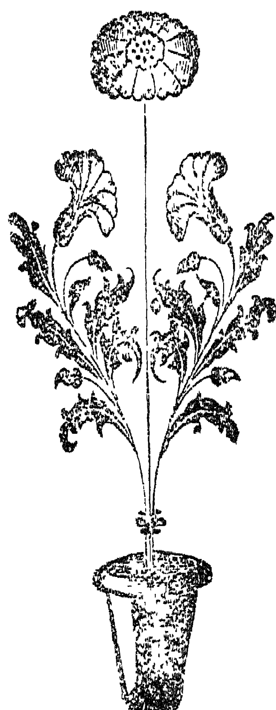
और भी कहा है—

गीतार्थं ध्यायते नित्यं, कृत्वाकर्माणिभूरिशः।
जीवन्मुक्तः सविज्ञेयो, देहान्ते परमं पदम्॥

जो अनेक प्रकारके कर्म्म करता हुआ भी गीताके अर्थका नित्य ध्यान करता है वह मरनेपर परम पद पाता है।

विशेष समझानेकी बात नहीं है, जैसे जब तक अन्न नहीं पचता तब तक रुधिर आदि धातु नहीं बनतीं; उसी तरह जब तक उपदेश समझमें नहीं आते तबतक मनुष्य उनके अनुसार काम भी नहीं कर सकता और इसी कारणसे कुछ फल भी नहीं मिलता।

अतएव, इस गीतारूपी उपदेशके एक-एक अक्षर, एक-एक पद और एक-एक शब्द तथा वाक्यको खूब समझकर पढ़ना और याद रखना चाहिये। समझकर पढ़नेसेही गीता-पाठका यथार्थ फल मिल सकता है।



श्रीमद्भगवद्गीता-सार

(माधवाचार्य्यके गीता-भाष्यके अनुसार गीताके प्रत्येक अध्यायका संक्षिप्त भाव*)

प्रथम अध्याय ।



ण्डवों और कौरवों की सेनायें कुरुक्षेत्रमें सम्मुखीन हुई हैं। दुर्योधन दोनों सेनाओंको देखता है। देखने पर उसके हृदयमें यह भाव उठता है कि यद्यपि उसके दलकी अक्षौहिणियों और प्रसिद्ध योद्धाओंकी संख्या अधिक है, तथापि पाण्डव-सैन्यही अधिकतर बलवती है। अपनी शक्तिकी पूर्णता पर उसे संशय होता है और द्रोणाचार्य्यको ही इस विषयमें सबसे सुचतुर समझ, वह उत्साह-वाक्य सुनने की आशासे, दौड़ा हुआ उनके पास जाता है। द्रोणाचार्य्य तो कुछ नहीं कहते, किन्तु सेनानायक पितामह भीष्म राजकुमार की मानसिक व्यग्रता समझ जाते हैं

* जिस श्लोकसे जो भाव लिये गये हैं, उस श्लोककी संख्या दे दी गई है।

और उसके दुःखाभिभूत हृदय को उत्तेजित करनेके लिये अपना शंख बजाते हैं। इन बातोंसे यह झलकता है कि, दुर्योधन खूब समझ गया है कि मेरा पक्ष अन्याय्य है। और इन बातोंसे यह भी प्रकट होता है कि, महती सेनाके रहते भी, धर्मपथसे विचलित होनेके कारण, उसपर मानसिक निर्बलता अपनी छाप जमा रही है। इस संघटन से और दुर्योधनका यह मनोभाव देखकर मानों पाठकों और चिन्ताशील पुरुषों को इस संघर्षके अन्तिम फलका आभास मिल रहा है। दूसरी ओर; अर्जुनमें कोई धार्मिक दोष नहीं, जिससे उन्हें यह युद्ध परित्याग करना पड़े अथवा जिसके कारण उनकी विजयमें सन्देह हो सकता हो; तथापि करुण और उच्चसे उच्च भावोंके वशीभूत होकर अर्जुन अपनी प्रतिज्ञासे डिगना चाहते हैं। वह देखते हैं कि युद्धक्षेत्रमें जिनसे उन्हें लड़ना पड़ेगा, उनमें उनके आत्मीय, श्रद्धास्पद गुरुजन, स्निग्ध मित्र और लड़के मौजूद हैं। परन्तु यदि अर्जुन युद्ध छोड़कर भाग जायँ तो लोगोंकी यह कहावत चरितार्थ होगी कि, संसारमें अन्याय और अधर्म भरा हुआ है तथा अन्याय और अधर्मकी जीत और न्याय और धर्मकी हार होती है। अर्जुनको कर्त्तव्य-पथपर लाना बहुत आवश्यक है और उनको कर्त्तव्यके महत्त्वका ज्ञान कराना उचित है। उनको अच्छी तरह समझानेके लिये भगवान् कृष्ण बहुत ज़ोर देकर यह नियम बतलाते हैं कि, कर्त्तव्य-सम्पादन के लिये कुछ उत्सर्ग—कभी-कभी बहुत उत्सर्ग की आवश्यकता होती है। प्रथमतः, प्रशंसनीयसे भी प्रशंसनीय व्यक्तिगत भावोंकी बिना आहुति दिये कर्त्तव्य-पालन नहीं हो सकता है। यही साधारण नियम, दैवी तथा मानवी न्याय का मूलमन्त्र है।

करुण-भावसे अभिभूत होकर अर्जुन युद्ध छोड़ देनेके लिये कुछ युक्तियाँ उपस्थित करते हैं। वे कहते है कि, जिन गुरुजनों की मुझे पूजा करनी चाहिये, जो आत्मीय मेरे सारे सुखकी जड़ हैं,

उन लोगोंके मारनेसे मुझे क्या लाभ ? उनका संहनन करनेसे मैं केवल रक्तरञ्जित सम्पत्तिका स्वामी बनूँगा ; परन्तु ऐसी सम्पत्ति ज़राभी सुखदायिनी नहीं होगी। प्रत्युत् यह सम्पत्ति बादको मुझे नरकमें भी लेजा सकती है। बुद्धिमानों की तरह बातें करते हुए अर्जुन युद्धसे देश, समाज तथा धर्मपर होनेवाली बुराइयों का वर्णन करते हैं। संक्षेपतः, अर्जुन शत्रुको हरा, उसकी सम्पत्तिको अधिकार में लानेसे, न अपनीही न संसारकीही कोई भलाई देखते हैं। वे कहते हैं, कि यदि मैं शत्रुहीन धनधान्यपूर्ण सारी पृथिवीका अकेला राजा हो जाऊँ अथवा स्वर्गका राज्य भी मेरे ही हाथमें आ जाय, तोभी मुझे नहीं दीखता कि मेरी इन्द्रियोंका जलानेवाला शोक दूर हो जायगा। अर्जुनको इहलोकके अनुभव की सत्यता पर पूरा विश्वास है और वे यह माननेके लिये तैयार नहीं, कि इस अनुभव का विनिमय इस या दूसरे किसी लोककी किसी चीज़से हो सकता है। समस्त वार्त्तालापमें श्रीकृष्ण भी यह अस्वीकार नहीं करते, कि इस संसारके अनुभव मायिक नहीं, बल्कि सच्चे अनुभव हैं। उनका केवल यही कहना है, कि जो पुरुष सुख और दुःख दोनोंही को एकही तरह अनुद्विग्न चित्तसे देखता है, वही पुरुष अमरत्वके योग्य होता है। अर्थात् इस क्षणभङ्गुर जीवन के तुच्छ आमोद-प्रमोदके लाभकी अपेक्षा और भी उच्च उद्देश्य हैं, जिनपर मनुष्यको लक्ष्य रखना चाहिये। श्रीकृष्ण बतलाते हैं कि अर्जुन! तुम्हारी युक्तियाँ ठीक नहीं। सच्चे प्रज्ञावान् पुरुष को चाहिये, कि कुछ व्यक्तिगत असुविधाओंकी परवा न करे और विश्वब्रह्माण्डको अधिकसे अधिक सुख-वृद्धिके लिए यत्न किया करे। जिन उद्देश्योंकी सिद्धिकी चेष्टा करनी चाहिये तथा जो भाव चित्तमें उत्पन्न हो सकते हैं, उनके इस भेदको जब तक मनुष्य हृदयङ्गम नहीं करता, तब तक यह नहीं कहा जा सकता, कि उसने सच्ची प्रज्ञा प्राप्त कर ली है।



दूसरा अध्याय ।

भगवान् कृष्ण कहते हैं, कि पण्डित लोग न मृत व्यक्तिके लिए, न जीवित व्यक्तियोंके लिये, चिन्ता करते हैं। अर्जुन, केवल तुम बुद्धिमानोंकी तरह बातें करते हो। भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह नहीं, कि अर्जुनको सच्ची प्रज्ञा है। जैसा शोक अर्जुन अनुभव कर रहे हैं, वैसा शोक सच्ची प्रज्ञाका चिन्ह नहीं। अब प्रश्न यह उठता है, कि तब सच्ची प्रज्ञा है क्या? भगवान् अर्जुनके ध्यानको अभ्यस्त मार्ग से खींचनेके लिये, इनके तर्क की नींवही पर आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं, कि अर्जुन तुमको प्रज्ञा का अर्थही मालूम नहीं। जो लोग जीवित हैं, उनके लिये पण्डित या मूर्ख कोई शोक नहीं करता। जो लोग मर गये हैं, उनके लिये भी पण्डित लोग शोक नहीं करते; केवल मूर्ख उस भूलभूलैया में पड़ते हैं। यहीं बुद्धिमानों की बुद्धि देखी जाती है। अब यह शङ्का हो सकती है, कि आत्मीयोंके मरनेसे बुद्धिमानों तथा मूर्खोंको हानि तो बराबरही होती है, तब बुद्धिमानोंको व्यथा क्यों नहीं होती? इसी जिज्ञासाको चित्तमें उद्दीप्त करना वक्ताका उद्देश्य है। इसका [illegible] यह नहीं, कि प्राज्ञ पुरुषोंके लिये एक अलग और मूर्खोंके लिये

एक दूसराही लोक है। ऐसे उत्तरका कुछ अर्थ नहीं निकलता। यथार्थ में दोनोंही के लिये एक लोक है। पर सोचना यह है, कि किस दृष्टि से इन बातोंको देखना बुद्धिमत्ता और किस दृष्टिसे देखना मूर्खता है। यदि समूची गीतामें इस एक विषयका भी पूर्वापर विरोधरहित विचार किया गया है और यदि यह निजकी भाषा तथा स्थिति की व्याख्या और विवरण प्रगट करती दिखायी देती है, तो जिज्ञासु पुरुषको इतनेही से यह सोच कर सन्तुष्ट होना चाहिये, कि एक यथार्थ और समुचित फल उसके हाथ लगा है।

श्लोक १२।१३—प्रारम्भमेंही चिन्ताशील पुरुषको ये बातें साव-धानता-पूर्वक स्मरण रखने का आदेश किया जाता है :—

(१) मुख्यतः, क्या सत् और क्या असत् है ?

(२) मनुष्यमें कोई ऐसी चीज़ है, जो मानों उसे शरीर और आत्माको एक समझने से मना करती है।

(३) अहम् का तात्पर्य्य एक प्रधानतः सत् पदार्थ से है—एक ऐसा सत् पदार्थ जो परिवर्त्तनशील स्थितिसे भिन्न-भिन्न रूपसे प्रभावान्वित होने पर भी स्वयं परिवर्त्तनशील नहीं तथा जो अपनेको सबका आधारभूत समझता है। ऐसेही सत् पदार्थको आत्मा कहते हैं।

(४) जो कुछ मुख्यतः सत् है, उसका बिल्कुल अभाव नहीं हो सकता। तर्कशास्त्रके कार्य-कारण नियमके अनुसार सत् पदार्थ की जड़ एक नित्य पदार्थही हो सकता है। और जो कुछ परिवर्त्तन इसके सम्भव हैं, वे इसकी केवल भिन्न-भिन्न अवस्थायें तथा विकारमात्र हैं। इसीको विनाश कहते हैं, विनाश कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। चाहे यह चैतन्य जीव हो या जड़ वस्तु हो, मुख्यतः इस सत्-पदार्थको स्वतः या इसके प्रधान रूपमें अवश्यही नित्य मानना होगा। यदि यह नियम अतीत और वर्त्तमानके विषयमें सत्य है, तो भविष्यत्के विषयमें भी इसको सत्य माननेके लिये विवश होते हैं। यह एक